भिक्षु जगदीश काश्यप

तथागत प्रकाशन

भिक्षु जगदीश काश्यप

प्रकाशक : तथागत प्रकाशन

श्री उपेन्द्र महारथी
जापान बुद्ध मन्दिर
राजगीर
जि० नालन्दा

दो शब्द

बौद्ध धर्म-दर्शन के मर्मज्ञ स्व० भिक्षु जगदीश काश्यप अन्तरराष्ट्रीय-ख्यातिप्राप्त विद्वान थे। उनकी प्रकाण्ड विद्वता और गंभीर मनीषा को देश विदेश के लोग स्वीकार करते थे। उनकी महिमामयी कृतियों से बौद्ध साहित्य-प्रकाशनों की जोश्रीवृद्धि हुई है, उसे शब्दों में सीमित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः उनका तपोनिष्ठ जीवन सारस्वत साधना का पर्याय बन गया था।

मनुष्य मात्र के लिए असीम करुणा उनके जीवन का स्थायी भाव था। उनमें उक्ति और कृति के सुन्दर समन्वय के दर्शन होते थे। अन्तः-करण पर अंकित उनकी यादें काल की गति के साथ भी विसर नहीं पायेंगी!

यह छोटी-सी पुस्तक काश्यपजी के जीवन पर प्रकाश डालने का एक लघु प्रयास है। हमारा विचार उनकी एक विस्तृत जीवनी प्रकाशित करने का है। अल्पकाल में ही इस पुस्तक को प्रकाशित करने में श्री दुर्गा प्रसाद शर्मा, उपाध्यक्ष, राजगृह बुद्ध विहार सोसाइटी, आकाशवाणी, पटनाके सहायक निदेशक श्री चतुर्भुज तथा पालि संस्थान, नालन्दा के निदेशक डा० टाटिया ने जो मदद की है, उसके लिए मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

भिक्षु शांति शुगेई, श्री हवलदार त्रिपाठी, श्री आत्मानन्द सिंह श्री हरलाल मेहता आदि मित्रों ने भी इस पवित्र अनुष्ठान में अपना पूरा सहयोग दिया है, जिसके लिए उनके प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूं और आशा करता हू कि पुस्तक में जल्दीबाजी के कारण रह गई कुछ भूलों के लिए पाठक वृन्द मुझे क्षमा करेंगे।

—उपेन्द्र महारथी

कृतज्ञता ज्ञापन

हम अपने राजगृह बुद्ध विहार सोसाइटी के उपाध्यक्ष श्री दुर्गा प्रसाद शर्मा के विशेष रूप से कृतज्ञ हैं, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय देकर इस पवित्र अनुष्ठान को सफल बनाया है।

—उपेन्द्र महारथी

भिक्षु जगदीश काश्यप

WORLD BUDDHIST ACADEMY
CHINESE MAHA BODHI TEMPLE
BODH-GAYA, BIHAR.

Prof. Tan Yun-Shan
Visva-Bharati University
Santiniketan

Salutations and Adorations to my old, beloved and dearest friend, the late Venerable Bhikshu Kashyapa !

He was and still is the Incarnation of Kashayapa-Matanga who together with Dharmaraksa led the first Indian Buddhist Mission to China and were welcomed by the Chinese Emperor Ming-Ti of the later Han dynasty in the year A. D. 67. A Temple Called "PEI-MA-TZU" or white Horse Temple, was specially built by the Emperor for thier resedency in Lo-Yang. This was the first Buddhist Temple in China and it is still there along with two tombs of the first two Indian Missionaries even today.

He is also the Incarnation of the most eminant Kashayapa of Buddha's time who was first a Brahman of Magadha and later on became one of the principal disciples of Lord Buddha and five hundred of his own Brahmin followers followed his example and became Buddhists all together.

Although the late Venerable Kashyapa physically is more with us today, his soul and work will eternally remain in this world for ever and ever. I only hope and pray that he will appear in this world again as all the other Bodhisattva-Mahasattvas such Manjusri, Samanta Bhadra, Mahas thama Avalokiteshvara, Kritigarbha etc. do for the salvation not only of all human beings but also of all other sentient beings not only in this world but in the whole universe !

Sd/—Tan Yun-S

नव नालन्दा महाविहार

डॉ० नथमल टाटिया, एम० ए० डी० लिट्,
निदेशक

पत्रालय-नालन्दा
विहार

स्वर्गीय भिक्षु जगदीश काश्यप ने बौद्ध धर्म की जो सेवायें की हैं वे चिरस्मरणीय रहेंगी। भारत में पालि अध्ययन एवं अध्यापन के कार्य में वे अग्रणी रहे। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पालि विभाग की स्थापना उन्हीं के प्रयत्नों से हुई। पुनः उन्हीं की प्रेरणा से बिहार सरकार ने नव नालन्दा महाविहार की स्थापना की। भिक्षु काश्यपजी के ही प्रयत्नों के फलस्वरूप आज देवनागरी लिपि में सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक उपलब्ध है। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में आज जो पालि एवं बौद्ध-दर्शन विभाग का समृद्ध स्वरूप तथा प्रकाशन कार्य हम देख रहे हैं, वह भी स्व० महास्थविर काश्यपजी की ही देन है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने प्राचीन बौद्ध साहित्य का उद्धार किया और भिक्षु काश्यपजी ने उस साहित्य के प्रकाशन, अध्ययन एवं अध्यापन के लिये शोध-संस्थानों का निर्माण किया। उनकी सारी जीवनी के लक्ष्यों को यदि संक्षेप में कहना हो तो हम निर्बाध यह कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म एवं विद्या के प्रचार के क्षेत्र में वे सचमुच ही बोधिसत्व थे। उनके शिष्य प्रशिष्य सारे भारत में बौद्ध विद्या के क्षेत्र में कार्यरत हैं और उनकी दीपशिखा को वहन कर रहे हैं। जापान के परमपूज्य फूजी गुरुजी और उनके शिष्य परिवार ने स्वर्गीय काश्यपजी की स्मृति में राजगीर के रत्नगिरि पर चैत्य निर्माण कर उनके प्रति जो श्रद्धांजलि अर्पित की है; वह युग-युग तक महास्थविर के उच्च आदर्शों के प्रतीक स्वरूप जगत को अनुप्राणित करती रहेगी।

सही० नथमल टाटिया
२२-१-७७

काश्यप जी अपने परिवार के सदस्यों के बीच

भिक्षु जगदीश काश्यप

श्री उपेन्द्र महारथी

भारतीय बौद्ध—जगत् में भिक्षु जगदीश काश्यप, यह एक ऐसा नाम है, जिसने बौद्ध धर्म को भारत वर्ष में पुनरुज्जीवित करने के निमित्त महामुनि महाकाश्यप की तरह अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग कर दिया। बौद्ध धर्म के जन्मकाल से ही पाल-युग तक धर्म के विकास में इस बिहार-भूमि की जैसी देन रही है, उसी परंपरा के गौरव के अनुकूल भिक्षु जगदीश काश्यप ने जीवन-पर्यन्त धर्म की निष्ठापूर्वक सेवा की है और अन्त समय में ये एक सच्चे भिक्षु की तरह ही निर्वाण-पद प्राप्तकर महामुनि की कोटि में भी जा बैठे हैं। भिक्षु धर्म के लिए जिस साधु चरित्र का उल्लेख बौद्ध धर्म ग्रन्थों में मिलता है, वह चरित्र भिक्षु जगदीश काश्यप में प्रकृत्या बचपन से ही परिलक्षित होने लगा था। ये सर्वथा एकान्तप्रिय, मितभाषी, करुण, शान्त, शीलवान, अध्ययन प्रिय और अपने अन्य साथियों से भिन्न प्रकृति के शान्तचित्त बालक दीख पड़ने लगे थे।

भिक्षु जगदीश काश्यप का जन्म सन् १९०८ ई० में रांची नगर में हुआ। इनका पैतृक निवास तो गया जिले के 'खिदिरसराय' थाने के 'रौनिया' नामक ग्राम में था। इनके पिता का नाम श्री श्यामनारायण लाल और पितामह का नाम भिखारीलाल और माता का नाम बतासो देवी था। काश्यपजी तीन भाई थे, जिनमें सबसे छोटे काश्यप जी ही

थे। सबसे बड़े भाई का नाम श्री आदित्यनारायण था, जो रांची नगर में सरकारी वकील थे। मझले भाई शिवनारायण अभी जीवित हैं और ये दरभंगा में वकालत कर रहे हैं।

रांची में काश्यपजी का ननिहाल था। इनके नाना का नाम मुंशी राम प्रसाद था, जो सिरिस्तादार थे। मुंशी रामप्रसाद जी के कोई पुत्र नहीं था। उन्हें सन्तान के नाम पर काश्यपजी की मां केवल 'बतासो देवी' ही थी। अतः मुंशी राम प्रसाद की प्रबल इच्छा थी मेरी पुत्री मेरे साथ ही रांची में रहे। अतः काश्यपजी के पिता श्यामनारायण लाल ने भी रांची के जजी-कोर्ट में सिरिस्तादार की नौकरी कर ली, जिससे वे अपने पत्नी के साथ अपने श्वशुर के घर में रहने लगे। आजकल जहां जिला कांग्रेस का भवन है, वहीं मुंशी रामप्रसाद का मकान था। बाद में उन्होंने अपना मकान कांग्रेस को दान में दे दिया, जिस मकान को तोड़कर पीछे कांग्रेस का नया भवन बना। इसी मकान में भिक्षु जगदीश काश्यप जी का जन्म १९०८ ई० में हुआ था। इनके बचपन और स्कूल-कालेज का नाम श्री जगदीश नारायण था।

श्री जगदीशनारायण बचपन से ही शान्त प्रकृति के बालक थे। इनमें बचपन से ही माता, पिता, नाना तथा अन्य गुरुजनों के प्रति श्रद्धा-भक्ति थी। पढ़ने-लिखने का चाव इनके हृदय में बचपन से ही था। अन्य लड़कों की तरह न तो ये घर में उधम मचाते थे या न बाहर। किन्तु खेल के प्रति इनकी रुचि खूब थी। अपने स्कूली जीवन में ये क्रिकेट अच्छा खेलते थे।

यों तो जगदीश नारायण सभी पाठ्य-विषयों के पढ़ने में अच्छे थे; किन्तु संस्कृत के प्रति इनकी अभिरुचि अधिक थी। अपने स्कूली जीवन में इन्होंने संस्कृत की शिक्षा श्री नन्दकुमार लाल वकील से ली थी। नन्दकुमार लाल संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। अंग्रेजी और हिसाब डिपुटी मैजिस्ट्रेट बाबू वंशी प्रसाद से पढ़ते थे।

रांची के जिला स्कूल में जब श्री जगदीश नारायण अध्ययन करते थे, तब ये एक बार महाभारी (कॉलरा) के चपेट में पड़ गये। बिमारी इतनी कड़ी थी कि घर वाले निराश हो गये थे, पर उनकी तत्परता से ये बच गये। स्कूली जीवन-काल से ही ये सादगी-पसन्द और मितव्ययी थे। कोट-कमीज, सूट-बूट को इन्होंने कभी पसन्द नहीं किया। उन दिनों भी ये खादी की धोती और खादी का कुरता ही

पहनते थे। कभी-कभी ये नंगे पैर स्कूल भी चले जाते थे। व्यसन यदि इनमें किसी चीज का था; तो वह किताबों का ही था।

एक बार फिर जगदीश नारायण जब नवीं श्रेणी में पढ़ते थे, तब सन्निपात से ग्रस्त हो गये। सन्निपात का प्रभाव इनके मस्तिष्क पर भी हो गया। लाख उपचार किया गया, मगर कुछ लाभ नहीं हो रहा था। सिर के दर्द से ये चिल्लाते और अर्र-बर्र बोलने लगे थे, मगर एक विचित्र उपचार से अच्छा हो गये। जिस गुरु से ये संस्कृत पढ़ते थे, उस नन्द कुमार लाल ने कहा कि मैंने वैद्यक ग्रंथों में पढ़ा है कि ऐसे रोगी को यदि भतुआ का गुद्दा निकाल कर उसे टोप की आकृति में बना लिया जाय और रोगी के माथे का बाल साफ कराकर उस टोप को पहना दिया जाय तो सिर का पीड़ा दूर हो जाती है। भतुआ का टोप कुछ ही देर में काला पड़ जाता है और यह विधि एक बार ही करनी पड़ती है, दुबारा नहीं। घरवाले तो इनके जीवन से निराश हो ही गये थे। उन्होंने जगदीश नारायण के माथे का बाल छिलवा कर भतुआ का टोप पहनाया। सचमुच भतुआ काला पड़ गया और पीड़ा दूर हो गई। उस बिमारी के चलते पीछे इन्हें शिर कम्प की बीमारी हो गई। यह बीमारी होमियोपैथिक दवा से छूटी। इसके बाद इनकी आवाज बन्द हो गई, जो बहुत दिनों के बाद शरीर में ताकत आने पर छूटी।

जगदीश नारायण ने मैट्रिक की परीक्षा रांची के जिला स्कूल के से पास की। इसके बाद इन्हें कालेज की शिक्षा के लिए पटना भेजा गया। पटना विश्वविद्यालय से ही इन्होंने एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए० की परीक्षा पास की। अपने कालेज-जीवन में श्री जगदीश नारायण प्रसाद प्रसिद्ध आर्य-समाज के विद्वान श्री अयोध्या प्रसाद के सम्पर्क में आये। अयोध्या प्रसाद गया जिले के रहने वाले थे और ये वेद-विद्या तथा अंकगणित के प्रकाण्ड विद्वान थे। इनकी प्रसिद्धि सारे भारत वर्ष में थी। ये जगदीश नारायण की नानी के सहोदर भाई थे, अतः उनके सम्पर्क से ये आर्य-समाज के परिपोषक बन गये। फलतः प्राच्य भाषा और साहित्य में इनकी अभिरुचि और प्रखर हो गई। ये आर्य-समाज की सभाओं में बराबर भाग लेने लगे। भाषण देने में पटुता इन्होंने आर्य-समाज में ही रह कर प्राप्त की थी। ये आर्य-समाज के विशिष्ट उपदेशक बन गये थे।

कुछ समय बाद जगदीश नारायण दर्शनशास्त्र के अध्ययन के लिए काशी गये और वहीं से इन्होंने दर्शनशास्त्र और संस्कृत में एम० ए० पास किया। जब ये पटना कालेज में अध्ययन कर रहे थे, तभी से इनके विवाह के लिए प्रस्ताव आने लगा था, किन्तु अध्ययन समाप्त करने का बहाना करते चले जाते थे। किन्तु, जब इन्होंने तीन-तीन विषयों में एम० ए० कर लिया, तब तो इनकी माता ने विवाह करने के लिए इन पर जोर डालना शुरू किया। पहले तो ये टाल-मटोल करते रहे, पर जब माँ का आग्रह बहुत बढ़ गया, तब इन्होंने एक दिन स्पष्ट कह दिया कि तुम्हारे तीन पुत्र हैं। दो पुत्रों की सन्तानें तो हैं ही। मेरे सन्तान न होने से तुम निर्वंश नहीं कहलाओगी। अतः मैं विवाह नहीं करूंगा। मैं अविवाहित रहकर ही देश और समाज की सच्ची सेवा कर सकता हूँ। इसके बाद पास-पड़ोस एवं हित-कुटुम्ब के लोगों का दवाब भी जगदीश नारायण पर पड़ने लगा। किन्तु ये अपने निश्चय पर अडिग रहे। पीछे सभी लोगों ने आग्रह करना छोड़ दिया।

एम० ए० पास करने के बाद सन् १९३२-३३ ई० में दो वर्षों के लिए वैद्यनाथधाम के आर्य-समाज गुरुकुल में इन्होंने अध्यापन का भी कार्य किया। आर्य-समाज धर्म ग्रहण करने के कारण ही इन्होंने अविवाहित जीवन व्यतीत करने का व्रत लिया था। किन्तु, वहाँ इनका मन रम नहीं सका।

गुरुकुल छोड़ने के पश्चात् इन्होंने अपनी मां से सीलोन जाने की आज्ञा मांगी। इनकी मां ने विह्वल स्वर में कहा-एक तो तुम विवाह नहीं करते हो, दूसरे अब तुम हम लोगों को भी छोड़ कर दूर देश चले जाना चाहते हो। यहीं कहीं नौकरी क्यों नहीं कर लेते ?" जगदीश नारायण उस समय तो चुप लगा गये, पर अपने सीलोन-प्रवास का आग्रह मां से सर्वदा करते रहे। अन्त में इनकी माँ ने आज्ञा दे दी।

सन् १९३४ ई० में ये सिलोन गये। वहां जाकर इन्होने वहां के विद्यालंकार कालेज में पालि भाषा का अध्ययन आरंभ किया। वहीं इनका परिचय भारत प्रसिद्ध विद्वान् महापंडित राहुल सांकृत्यायन से हुआ। राहुल जी के सम्पर्क में आने के पश्चात इन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार करके भिक्षु बन जाने का निश्चय किया। किन्तु, बौद्ध धर्म के नियमानुसार माता-पिता से आज्ञा ले लेना आवश्यक था। अतः इन्होंने अपने भिक्षु बनने का निश्चय अपनी माता को लिखा और उनका आदेश मांगा। इनकी माता ने पहले तो बहुत रो-धोकर पत्र लिखा कि ऐसा

मत करो, पर जगदीश नारायण के लगातार पत्र माँ के पास आने लगे और प्रत्येक पत्र में आज्ञा देने की मांग ये करते रहे, जिससे लाचार होकर इनकी माता ने भी आज्ञा भेज दी।

सिलोन में ही जगदीश नारायण ने बौद्ध धर्म स्वीकार करके चीवर धारण किया और अपना नाम भिक्षु जगदीश काश्यप रखा। ये काश्यप गोत्र के थे, अतः नारायण के स्थान पर काश्यप उपनाम लगाया। इसके बाद इनका 'जगदीश नारायण' नाम लुप्त हो गया और ये भिक्षु जगदीश काश्यप नाम से अभिहित होने लगे। सिलोन में कई वर्षों तक रह कर भिक्षु जगदीश काश्यप पालि भाषा, साहित्य तथा बौद्ध दर्शन का अध्ययन, चिन्तन और मनन करते रहे। एक बार सिलोन में जोरों का हैजा आया, जिससे ये सिलोन छोड़कर भारत चले आये। कुछ दिनों तक ये अपने मंझले भाई के यहां दरभंगा रहे, इसके पश्चात ये बनारस चले गये और सारनाथ के 'मूलगन्धकुटी-बिहार' मे रहने लगे।

भिक्षु जगदीश काश्यप बौद्ध धर्म-दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। ये हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा पालि भाषाओं के मर्मज्ञ एवं कई उच्च ग्रन्थों के प्रणेता भी रहे हैं। जीवन-भर बौद्ध धर्म और पालि-साहित्य की सेवा इन्होंने बड़ी निष्ठा से की। ये सन् १९३५ ई० में बर्मा तथा १९३६ ई० में मलाया गये। इसके बाद ये चिनांग और सिंगापुर भी गये। यहीं इन्होने चीनी भाषा का अध्ययन किया। इन देशों में इन्होंने बौद्ध धर्म सम्बन्धी रीति-रिवाज का भी गहरा अध्ययन और ज्ञान प्राप्त किया। स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् एक बार पुनः ये डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के साथ जब बर्मा गये, तो ये बोध गया के पवित्र पीपल वृक्ष की शाखा भी बर्मा ले गये, जहां वह शाखा एक समारोह के साथ लगाई गई। इसके पहले ही ये एक बार चीन भी गये थे। चीन से लौटने के बाद ये फिर सिलोम में जाकर रहने लगे।

सिलोन के बाद काश्यपजी पुनः स्वदेश लौटे और यहां सारनाथ को ही इन्होंने अपना मुख्यालय बनाया। इस बार इन्होंने सारनाथ के हाई स्कूल में शिक्षक का पद ग्रहण कर लिया। यहां इन्होंने सन् १९३८ ई० से १९४० ई० तक कार्य किया। इन्हीं वर्षों में इनके पिता और बड़े भाई की मृत्यु सारनाथ के 'मूलगन्धकुटी-बिहार' में हुई। वे लोग जब बारी-बारी से बीमार पड़े, तब काश्यपजी इन्हे अपने साथ सारनाथ ले गये। बीमारी में अपने पिता और भाई की बड़ी श्रद्धा के साथ इन्होंने पूरी सेवा अपने हाथों की। रात-दिन उनकी तिमारदारी में लगे रहते

थे। उनलोगों के मरने के बाद दाह-संस्कार की क्रिया इन्होंने अपने मझले भाई शिवनारायण से करवाई थी। सन् १९४० ई० में ही काश्यपजी को सिलोन से त्रिपिटकाचार्य की उपाधि प्राप्त हुई थी।

सन् १९४० ई० में ही काश्यपजी की नियुक्ति काशी विश्वविद्यालय में पालि भाषा के प्राध्यापक के पद पर हुई इस पद पर ये सन १९५० ई० तक योग्यतापूर्वक कार्यरत रहे। इसी अवधि में एक विशिष्ट बौद्ध विद्वान के रूप में सारे बौद्ध-जगत में इन्हें पूर्ण ख्याति प्राप्त हुई। अब तक भारत को स्वतंत्रता मिल चुकी थी।

दसवीं-ग्यारहवीं शती तक नालन्दा एक विश्वविख्यात विश्वविद्यालय तथा भारत के सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विश्रुत रहा था। इस भारतीय सांस्कृतिक तीर्थ का विनाश इख्तियारूद्दीन ख्लिजी के हाथों सन ११९४ ई० में हुआ। यह सर्व विदित है कि जिन कारणों से ज्ञान, धर्म, और संस्कृति के गुरु बनने का गौरव विश्व में भारतवर्ष को मिला, उसका बहुत बड़ा श्रेय नालन्दा विश्वविद्यालय को है। इस देश से बाहर भगवान बुद्ध की धर्म-शिक्षाओं तथा भारतीय सांस्कृतिक जीवन का संदेश ले आने वाले बौद्ध भिक्षुओं का प्रबल प्रवाह इसी नालन्दा -तीर्थ से प्रवाहित हुआ था। नालन्दा का विनाश भारतीय इतिहास की एक हृदयद्रावक एवं रोमांचित कर देने वाली अत्यन्त ही दु:खद घटना है! वही नालन्दा लगभग साढ़े सात सौ वर्षों तक एक विशाल मिट्टी के ढूह के भीतर मुंह छिपाये कराहता रहा।

सन् १९४७ ई० में भारत स्वतंत्र हुआ, जिससे भारतीयों में आत्मबोध का ज्ञान हुआ। सन् १९५१ ई० में सुप्रसिद्ध देश-सेवक और विद्या-व्यसनी स्वर्गीय श्री बदरी नाथ वर्मा विहार के शिक्षा-मन्त्री और शिक्षा-विभाग के सचिव सुप्रसिद्ध नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर थे। भारतीय संस्कृति, प्राच्यविद्या और शिल्पोंका तत्वज्ञ तथा विद्वानों का पारखी माथुर साहब जैसा शिक्षा-सचिव मिलना बिहार के लिए अब दुर्लभ है। माथुर साहब ने नालन्दा के लुप्त प्राचीन गौरव को पुनरुज्जीवित करने के निमित्त सन् १९५१ ई० में ही यहा 'पालि-प्रतिष्ठान' नामक एक संस्था स्थापित कराई, जिसका आर्थिक भार बिहार-सरकार ने वहन करना स्वीकार कर लिया। श्री जगदीशचन्द्र माथुर के नालन्दा में पालि-प्रतिष्ठान स्थापित करने का संकल्प भारतीय सांस्कृतिक चेतना के प्रति उनकी गहरी और सच्ची निष्ठा का प्रतीक था। पालि-साहित्य, बौद्ध-

धर्म-दर्शन तथा विश्वविश्रुत नालन्दा के पुनरुद्धार की प्रबल इच्छा ने ही माथुर साहब को पालि-प्रतिष्ठान की योजना के लिए उद्वेलित किया था।

सन् १९५१ ई० में जब नालन्दा में पालि-प्रतिष्ठान की स्थापना हुई, तब विद्वत-पारखी माथुर साहब ने संस्था के सम्यक् संचालन के लिए सुयोग विद्वान् भिक्षु जगदीश काश्यप को ही उपयुक्त समझा। फलतः काश्यपजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पद को त्याग कर नालन्दा पालि प्रतिष्ठान के निदेशक बन नालन्दा में आ गये। सर्वप्रथम उन्होंने एक किराये के मकान में ही प्रतिष्ठान का कार्य आरंभ कर दिया। अल्पकाल में ही उन्होंने अध्यापन कार्य के निमित्त पालि के विद्वानों को खोज-खोज कर एकत्र किया। शीघ्र ही प्रतिष्ठान के निमित्त उन्होंने स्थान का चुनाव, भवन-निर्माण एवं एक विशाल पुस्तकालय को भी संगठित कर दिया। जिस निष्ठा और लगन के साथ पालि-प्रतिष्ठान को सुव्यवस्थित करने में काश्यपजी ने घोर परिश्रम और कर्म-निष्ठा का परिचय दिया, वह उन्हीं जैसे महान् पुरुष के लिए संभव था। उस समय उनके साधु चरित्र और सादा जीवन का प्रभाव भी नालन्दा के पास-पड़ोस की जनता पर खूब पड़ा था, जिससे प्रतिष्ठान को सर्वांगीण व्यवस्थित करने में जन-सहयोग भी उन्हें पूर्ण रूप से मिला।

बौद्ध धर्म के मुख्य केन्द्र होने के कारण काश्यपजी को राजगृह और नालन्दा परमप्रिय स्थान थे। इन ऐतिहासिक तथा धर्मपीठ स्थानों के पुनरुद्धार एवं विकास के लिए उनके हृदय में प्रचुर उत्साह भरा रहता था। अतः उस समय उन्होंने नालन्दा में ही अपना स्थायी निवास बनाने की योजना बनाई। नालन्दा के पुराने रेलवे-स्टेशन के समीप उन्होंने जमीन ली और भवन का काम आरम्भ कर दिया। अपने निवास-भवन को भी उन्होंने बौद्ध धर्मानुसार; ध्यान धारण के लिए गह्वर, चक्रमण चैत्य, अध्ययनमनन-कक्ष ऊपर में शयन-कक्ष, अतिथि-कक्ष आदि ढंग, से, बनवाया। काश्यपजी के निदेशकत्व में ही भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद के हाथों नव-नालन्दा महाविहार का शिला-न्यास हुआ और इस महा बिहार के भवन का उद्घाटन राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन के हाथों सम्पन्न हुआ था। इतना ही नहीं नालन्दा में ह्वेन-सांग-मेमोरियल भवन भी भिक्षु जगदीश काश्यप की ही दूरदर्शिता और उद्योग का प्रतिफल है। सर्वविदित है कि चीनी यात्री ह्वेन-सांग का नालन्दा से अत्यन्त घना सम्बन्ध था। नालन्दा विश्वविद्या-

लय में ही उसने बौद्ध-विद्वान शीलभद्र से बौद्ध साहित्य और दर्शन का अध्ययन किया था। यहीं के पुस्तकालय से वह दर्जनों बौद्ध ग्रंथों की पांडुलिपियो तैयार कर चीन ले गया और विदेशी विद्वानों को नालन्दा का गौरवमय परिचय ह्वेनसांग के चीनी ग्रंथों से ही मिला था। अतः नालन्दा में उसके एक मेमोरियल भवन का निर्माण विश्वबन्धुत्व के विचार से आवश्यक था। काश्यपजी ह्वेन-सांग के शरीरावशेष प्राप्त करने के लिए चीन गये और उनके सत्प्रयास से जब वह प्राप्त हो गया, तब ससमारोह नालन्दा लाया गया। उसी शरीरावशेष के ऊपर नालन्दा में ह्वेनसांग का महान स्मारक काश्यपजी ने खड़ा कराया, जो आज उनके कीर्तिस्तम्भ बनकर दूर से ही यात्रियों का ध्यान आकृष्ट करता रहता है। इन कार्यों के साथ विदेशी छात्रों के लिए वृत्ति और निवास की व्यवस्था भी कराई। आज उसी का परिणाम है कि विदेशोंसे विद्यार्थी पुनः ज्ञान-तीर्थ नालन्दा में आने लगे हैं और ज्ञान तथा दर्शन की शिक्षा शान्त चित्त होकर प्राप्त कर रहे हैं। यह काश्यपजी के ही उद्योग और परिश्रम का परिणाम है कि नालन्दा अपने पूर्व गौरव की ओर निरन्तर अग्रसर होता जा रहा है।

पूर्णरूप से सुव्यवस्थित पालि-शोध-प्रतिष्ठान में अध्ययन-अध्यापन का कार्य जब निर्बाध चलने लगा, तब ५० भागों में त्रिपिटक के तथा पालि में लिखित अन्यग्रन्थों के देवनागरी लिपि में रूपान्तरण कर प्रकाशित करने की योजना काश्यप जी ने तैयार की, जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया। यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण था, जिसे कार्यान्वित करने का भार काश्यपजी को ही वहन करना था। अतः उन्होंने पालि-शोध प्रतिष्ठान के निदेशक-पद को त्यागकर इस गुरुत्तर कार्य का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर ले लिया। ग्रंथों के प्रकाशन का मुद्रण पटना तथा किसी अन्य स्थान में सम्भव नहीं था, अतः वाराणसी में इसके मुद्रण की व्यवस्था की गई। नागरिक लिपि में रूपान्तरित त्रिपिटक के सम्पादन तथा मुद्रणकार्य को सुव्यवस्थित करने के निमित्त काश्यपजी वाराणसी चले गये और वहीं स्थायी रूप से रहने लगे। देवनागरी लिपि में रूपा-न्तरित त्रिपिटक के ४१ खण्ड इनके सम्पादकत्व में ही प्रकाशित हुए। वाराणसी वास के समय काश्यपजी ने संस्कृत-विश्वविद्यालय (काशी) में पालि विभाग के अध्यक्ष पद को भी स्वीकार कर लिया था, जिससे पालि और पालि-साहित्य के प्रचार-प्रसार में और अधिक बल मिला। त्रिपिटक

ग्रन्थों के देवनागरी-रूपान्तरण, सम्पादन तथा मुद्रण में काश्यपजी ने घोर परिश्रम किया। इन निरन्तर कठिन परिश्रमों और वार्द्धक्य के कारण उनके स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उधर सरकारी नियमानुसार भी उन्हें इन कार्यों से अवकाश लेना पड़ा।

बौध-धर्म के पुनरुद्धार के प्रति काश्यपजी के मन में जितनी योजनायें थीं, उन सबको पूर्ण कर देने का संकल्प उन्होंने किया था। किन्तु, उनकी सारी योजनाएँ पूरी नहीं हो सकीं; क्योंकि मनुष्य की शक्ति और आयु की एक सीमा भगवान् ने निश्चित कर दी है। परिणामतः काश्यप जी अवकाश ग्रहण करने के पश्चात कुछ अस्वस्थ हो गये। सर्वप्रथम वे स्वास्थ्य-सुधार के निमित्त अपने भाई के यहां दरभंगा चले गये, किन्तु स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार होते ही वे पुनः नालन्दा आकर रहने लगे। नालन्दा में आकर उनका स्वास्थ्य धीरे-धीरे बहुत गिर गया और वे बीमार रहने लगे।

भिक्षु जगदीश काश्यप की बौद्ध धर्म के प्रति अटूट निष्ठा, बौद्ध-धर्म के पुनरुद्धार के निमित्त घोर परिश्रम एवं इनकी विश्रुत विद्वता के प्रति जापान के धर्मगुरु पूज्य फुजई गुरुजी बहुत दिनों से आकृष्ट थे। खास कर राजगृह के रत्नगिरि पर जब पूज्य फुजई गुरुजी के उद्योग से शान्तिस्तूप का निर्माण होने लगा, तब गुरुजी को 'पालि-प्रतिष्ठान' और भिक्षु जगदीश काश्यप को निकट से जानने का अवसर मिला था। अतः काश्यपजी की अस्वस्थता का समाचार जब गुरुजी को मिला, तब उन्होंने राजगृह-बासी अपने जापानी शिष्यों को आदेश भिजवाया कि काश्यपजी को राजगृह लाकर उनकी चिकित्सा तथा सेवा-सुश्रूषा एवं सुविधा की व्यवस्था की जाय। आदेश पाते ही गुरुजी के शिष्य काश्यपजी को राजगृह ले गये और उनकी सेवा-शुश्रूषा एवं उपचार बड़ी तत्परता से करने लगे। किन्तु, नियति की इच्छा प्रबल होती है। काश्यपजी का स्वास्थ्य निरन्तर गिरता गया। अन्त में २८ जनवरी, १९७६ ई० को वह दुर्दिन भी आया, जब काश्यपजी ऐसा धर्मनिष्ठ भारतीय संस्कृति का पुजारी और घोर अध्यवसायी विद्वान इस धरा-धांम से उठकर निर्वाण पद को प्राप्त कर गया। इनके निर्वाण से भारत ने एक प्राच्यविद्या के प्रकाण्ड पंण्डित को और बौद्ध जगत् ने अपने एक महान् धर्मनेता को खो दिया, जिसका अभाव कदाचित् ही अब पूरा हो।

काश्यपजी के शव का अन्तिम संस्कार बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न कराया गया था। उनके शव-यात्रा में श्याम, बर्मा, सीलोन, जापान, भारत आदि देशों के बौद्ध भिक्षुओं के मंत्रोच्चार के साथ नालन्दा और राजगृह के पड़ोस के हजारों नर-नारी सम्मिलित थे। उस शव-यात्रा में सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे मिला था। ज्ञात होता था, मानों सच-मुच द्वितीय संगीति के अधिष्ठाता महामुनि महाकाश्यप का निर्वाण-दिवस आज सम्पन्न हो रहा है।

बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार की कई योजनाएं भिक्षु जगदीश काश्य-पजी के साथ ही विरमित हो गईं। पूज्य फुजिई गुरुजी के साथ उन्होंने राजगृह में एक अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध विश्वविद्यालय स्थापित करने की योजना बनाई थी और निश्चय किया था कि इस विश्वविद्यालय के संचालन करते हुए अपना अन्तिम समय राजागृह में ही व्यतीत करूंगा। मैंने स्वयं एक दिन काश्यपजी के समक्ष 'राजगृह-शिल्प-निकेतन' नामक एक स्वावलम्बी संस्था की योजना रखी थी, जिसमें उन्होंने अनाथ बालकों की पाठशाला को भी जोड़ते हुए अपनी स्वीकृति और आशीर्वाद दिया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने बिड़ला जी को एक पत्र लिखकर अनुरोध भी किया था कि "मैं अब स्थायी रूप से राजगृह में ही रहना चाहता हूं, अतः आप अनाथ बच्चों के विद्यालयों के लिए यहां जमीन दें और विद्यालय के संचालन की व्यवस्था भी कर देने की कृपा करें। उनकी योजनाओं में 'जीवक-चिकित्सालय' नामक एक अस्पताल की भी योजना थी।

भिक्षु जगदीश काश्यप भारत के उन बौद्ध भिक्षुओं में थे, जिसकी कीर्ति पताका समस्त संसार के बौद्ध विद्वानों में फहरा रही थी। भारत के गिने-चुने भिक्षुओं में वे अग्रणी थे। वे जिस प्रकार बौद्धधर्मोपदेशक के रूप में अपनी वक्तृत्वशक्ति के लिए प्रसिद्ध थे, उसी प्रकार वे उच्चकोटि के बौद्ध विद्वान तथा बौद्धधर्म के ग्रन्थ-प्रणेता के रूप में भी विश्वविख्यात थे। उनके द्वारा निर्मित तथा सम्पादित कुछ विशाल ग्रन्थों की तालिका ही इस बात की साक्षी है :—

१. पालि महाव्याकरण
२. खुद्दक निकाय का हिन्दी अनुवाद ११ खंडों में
३. संयुक्त निकाय का हिन्दी अनुवाद

४. पाश्चात्य तर्कशास्त्र (२ खंडों में)
५. उदान का हिन्दी अनुवाद
६. मिलिन्द प्रश्न का हिंन्दी अनुवाद
७. पालि-निस्सैनी
८. जात कट,ठ--कथा
९. दीध निकाय का हिन्दी अनुवाद
१०. अभिधर्म दर्शन (अंग्रेजी २ भाग)
११. बुद्धिज्म फार एब्री बडी(अंग्रेजी)
१२: पालि--त्रिपिटिक (सम्पादन ४१ खंडों में)

भिक्षु जगदीश काश्यपजी की यादगार में

"ना-मू-म्यों-हो-रें-गे-क्यो"

बड़े दुःख एवं उदासीनता की बात है कि भिक्षु काश्यप जी अब हमारे बीच में नहीं रहे। मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूं, मानो घर का खम्बा टूट गया हो।

मेरी पहली मुलाकात भिक्षु काश्यप जी से उस समय हुई थी, जबकि वे द्वितीय विश्व शान्ति परिषद् में, (सन् १९५४ जापान में प्रथम विश्व शान्ति स्तूप का उद्घाटन हुआ था,) पूज्य फुजीई गुरुजी का अतिथि बनकर जापान आए थे। उस वक्त मैं न तो अंग्रेजी जानता था और न हिन्दी। वे भी तो जापानी नहीं जानते थे। तब हमारे बीच में भला संवाद कैसे हो सकते थे। परन्तु मैं इस दृष्टिकोण से काश्यप जी एवं अन्य भारतीय अतिथियों को बड़ा उत्सुकता से देख रहा था कि वे ही लोग तो हैं भगवान बुद्ध के कर्मभूमि के निवासी। उसी वक्त से काश्यपजी की विशेषता यह थी कि वे हमेशा हंस-मुख रहकर अपने पास आनेवालों को आनन्दित किया करते थे।

दूसरी मुलाकात हुई थी जब मैं जीवनदानी बनकर जापानी मन्दिर, राजगीर में आया था, सन् १९५६, ८ अप्रिल को। सौभाग्य नहीं तो और क्या कहूं कि महायान बौद्ध धर्म के इतिहास में ८ अप्रिल को भगवान बुद्ध की जन्म-तिथि मनाई जाती है। भिक्षु काश्यपजी ने भी अपने शिष्यों को लेकर स्वागतार्थ राजगीर मन्दिर में आकर हमारे साथ पूजा प्रार्थना की थी। भिक्षु सातो ने यह आयोजन किया था।

उसके बाद मैं उनसे हिन्दी सीखने का भाग्यवान बना।

सन् १९५७, २३ फरवरी को राजगीर मन्दिर के बगल वाली जमीन पर शान्ति स्तूप का शिलान्यास तत्कालीन राज्यपाल के करकमलों से सम्पन्न हुआ था। वे अपने करीब ४० शिष्यों के साथ उपस्थित हुए थे। पूज्य फुजीई गुरुजी के साथ नालन्दा के इतिहास पर बातचीत हुई थी।

विशेषकर शून्यवाद पर बहस हुई। उसकी याद अभी भी मेरे मन को परम प्रिय है।

काश्यप जी नालन्दा से वाराणसी चले गये और सालों बाद पुनः नालन्दा वापस आ गये तो हमारी खुशी का ठिकाना न रहा।

राजगीर विश्व शान्ति स्तूप का उद्‍घाटन को लेकर उन्होंने अपना संपूर्ण योगदान समर्पित किया था। सन् १९७०, प्रथम वर्षगांठ उत्सव के सुअवसर पर उन्होंने पूज्य गुरुजी से कहा था :—"आप मुझे अपना शिष्य के रूप में ग्रहण करें। और मुझे नये नाम दें तो बड़ी कृपा होगी।" पूज्य गुरुजी ने उनके अनुरोध को टालते हुए कहा :—

"जिस तरह आप रह रहे हैं उसी तरह रहना उत्तम होगा। नया नाम की कोई जरूरत नहीं"

यद्यपि पूज्य गुरुजी की ओर उनका आकर्षण रामगढ़ कांग्रेस सम्मेलन में मुलाकात भिक्षु मारुयामा जी के मार्फत हुआ था, और यह उनके मन में घर कर गया था, जापान में पूज्य गुरुजी के कार्यों को देखकर विशेष कर राजगीर शान्ति स्तूप का निर्माण होते ही होते पूज्य गुरुजी के प्रति असीम श्रद्धा, आपार विश्वास व्यक्त करने लगे थे। पूज्य गुरुजी भी उनके प्रति भारतीय एकमात्र विद्वान भिक्षु के रूप में सम्मानित किया करते थे।

सन् १९७१ में उन्होंने पूज्य गुरु जी को कहा था :—

"नालन्दा में जापान बुद्ध संघ का बड़ा ढोल रखकर हर रोज 'ना-मू-म्यो-हो-रें-गे-क्यो' का जप करना चाहता हूं।" पूज्य गुरु जी ने हर्ष पूर्वक उसे स्वीकार कर ली और तुरन्त वैसी ही व्यवस्था कर दी गई। आगे उन्होंने यह भी कहा था :—

"थोड़े दिनों के बाद मै अवकाश पानेवाला हूं। तब मैं रत्नगिरी में शान्ति स्तूप के बगल में रह कर सद्धर्म पुंडरीक सूत्र पर उपदेश करूंगा। और गांव-गांव घूम-घूम कर 'ना-मू-क्यो-हो-रें-गे-क्यो' का प्रचार करूंगा। यदि हो सके तो जापानी छोटी कार यदि मिल जाये तो उसके लिए बड़ी सुविधा मिलेगी।" हम सबने हर्ष-ध्वनि के साथ उनके इस निर्णय का स्वागत किया था।

उसके थोड़े दिनों के बाद अर्थात् फरवरी महीना में "भारत जापान बौद्ध संघ की स्थापना हुई तो उपाध्यक्ष पद को उन्होंने स्वीकार किया।

जब मै लेटर पैड में "भदन्त काश्यप" नाम छाप दिया तो उन्होंने बड़ा गम्भीर मुद्रा मै मुझे कहा था कि "भदन्त' शब्द से संबोधित न की जाये। यह बात सुनकर में स्तब्ध रह गया था। कितनी विनम्रता है उनके भीतर, में इतना महान भिक्षु, महान पंडित होकर भी उन्होंने "भदन्त' शब्द को संबोधन से इनकार कर दिया था। यही कारण है कि अभी भी मैं भिक्षु काश्यपजी के नाम से संबोधित कर रहा हूं।

तदनन्तर, वे अस्वस्थ हो गये। पूज्य गुरुजी ने बड़ी चिन्ता प्रकट की। सौभाग्य से भिक्षु इसीयामा को प्राचीन पद्धति का जापानी चिकित्सा मालूम था। वे तुरन्त नालन्दा गये और काश्यपजीकी सेवा में लग गये थे।

सन् १९७५, अप्रिल महीने में जब पूज्य गुरुजी बम्बई से यूरोप जाने वाले थे कि उन्होंने मुझे आज्ञा दी थी :—"अब मैं लौट कर भारत आनेवाला नहीं हूं। तुम भिक्षु कश्यपजी से मिलो और कहो कि राजगीर मन्दिर में रहें और श्री महराथी जी के साथ मेरे कार्य को सम्भाल लें।' मैं बम्बई से नालन्दा होकर वाराणसी गया जहां काश्यपजी का शारीरिक इलाज चल रहा था। वे दरभंगा गये हुए थे। किसी तरह से पूज्य गुरुजी का संदेश पहुंचा दिया गया। उन्होंने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर लिया और जुलाई महीने से राजगीर मन्दिर में रहने लगे जहां उन का अन्तिम स्थान बना तो सही, परन्तु कौन जानता था कि इतना जल्दी वे इस संसार से चल बसनेवाले थे। जिस कमरे में वे रहते थे उस कमरे काम "काश्यप गेस्ट रूम' नाम से सुरक्षित है।

उन की राजगीर मन्दिर में आने की खबर जब पूज्य गुरुजी को मिली तो बड़ी खुशी हुई थी। उन के सुविधानुसार पूज्य गुरुजी ने क्या क्या नहीं किया, क्या क्या निर्देश रांजगीर को नहीं भेजा, यह तो भगवान ही जानें।

काश्यपजी की अस्वस्थता की खबर फैल गयी तो श्री महारथीजी; डा० टाटिया की चिन्ता की सीमा न रही। बारम्बार आने लगे। बिहार विधान सभा के अध्यक्ष श्री हरिनाथ मिश्र उन से मिलने आये। महारथीजी साथ में थे। अध्यक्ष महोदय ने उन से अनुरोध किया कि पटना अस्पताल में आराम से चिकित्सा लें।

काश्यपजी ने धन्यवाद सहित उत्तर देते हुए कहा :—पटना जाने की इच्छा नहीं है। मैं इस जापानी मन्दिर में मरना पसन्द्र करूंगा। यह

स्थान मेरे लिए बड़ा प्रिय है। काश्यप जी के कण्ठ से यह स्वर निकलते सुना तो मेरा मन भर आया। जब श्री गोऐंका जी उन से मिलने आए तो लगभग वैसा ही बातचीत हुई थी जैसा कि अध्यक्ष महोदय के साथ हुई थी। काश्यपजी ने भिक्षु नारीमातू के प्रति हृदय से संतोष व्यक्त किया था।

सन् १९७६ दिल्ली में पहली फरवरी की याद आते ही मेरी शक्ति क्षीण होती चली जाती सी लगती है। ऐक दिन प्राप्त हुए दो तारें, एक में था।—काश्यपजी का स्वाथ्थ गम्भीर है, तुरन्त आ जावें। दूसरे में थे-काश्यपजी का निधन २८ जनवरी दोपहर १. ३० बजे हुआ। राजगीर से भेज गये यह तारें मेरा पीछा करते हुए बम्बई से दिल्ली तक आया जहां-मैं था। मुझे अफसोस है कि उन के दाह संस्कार मेंसम्मिलित होने से बचित रह गया। परन्तु यह जान कर मेरा दुःख कुछ हद तक दूर हो जाता है कि भिक्षु नारीमातू ने जो कुछ किया, सो काफी था।

१-१-७६ को उन्होंने प्रधान मन्त्री को एक पत्र लिखा था। रामगढ़ कांग्रेस सम्मेलन एवं भिक्षु मारुयामा का जिक्र करते हुए निवेदन किया था कि शांति स्तूप निर्माण योजनाओं पर सुविधायें दे देनी चाहिए।

२५-२-७६ को पूज्य गूरुजी की उपस्थिति में श्री लंका के राष्ट्रपति के कलकमरों से श्रीपद में शांति स्तूप का शिलान्यास हुआ था। हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए पूज्य गुरुजी ने जापानी प्रतिनिधिगण को लेकर २ मार्च को राजगीर पधारे थे। काश्यपजी का निधन समारोह जापानी बौद्ध धर्म की पद्धति से गम्भीर पूर्वक सम्पन्न हुआ। पूज्य गुरुजी ने उनकी महानता पर प्रकाश डालते हुए "भारतीय रत्न" के रूप में प्रशंसा की थी। नालन्दा में स्थित उन के स्मृति स्तूप की पूजा भी की गई।

निश्चय किया गया था कि भिक्षु काश्यपजी के नाम पर एक स्मृति चैत्य बनाया जाये जिसमें राजगीर से संबन्धित अन्य भिक्षुओं वने धातुअवशेषों को भी प्रतिष्ठित किया जाय। अभी यह स्मृति चैत्य श्री महावीर जी के निर्देशनानुसार भिक्षु नारीमात् ने बड़ा मेहनत के साथ तैयार किया है।

संदर्भ पुंडरीक सूत्र में उपदेश इस प्रकार है :—"मैं लोकनाथ हूं, भैषज्य गुरु हूं, सर्वसत्व रक्षक हूं। ······· मैं सदा सदैव गृध्रकूट पर रहते

हुए अनुत्तर सम्यक सम्बोधि का उपदेश देता रहूंगा ।"

इस ब्रह्म स्वर के मुताबिक -, हे भिक्षु काश्यपजी ! आप भी सदा सदैव शांति स्तूप के संरक्षक के रूप में इस पवित्र भूमि पर रहते हुए संसार के कोने-कोने से आने वाले दर्शकों को उपदेश देते रहिएगा, ताकि आगंतुक यह समझ सके कि जापानी बौद्ध धर्म का असलियत क्या है ।

''ना-मू-म्यो-हो-रे-गे-क्यो''

—भिक्षु शांति शुगोई

पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप-संस्मरण

चतुर्भुज

आकाशवाणी, पटना

उन दिनों पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप नालन्दा कालेज में पालि के प्राध्यापक थे और नालन्दा से बिहारशरीफ नित्य दिन ट्रेन से जाया-आया करते थे। ट्रेन में ही मेरी उनसे भेंट हुई और मैं उनकी सरल बातचीत से प्रभावित हो उनके चरणों में झुक गया। वे नालन्दा का पुनरुद्धार करना चाहते थे। उनका सपना था कि वे नालन्दा को उसका विलुप्त गौरव वापस करायें। अपने पैसे लगा कर उन्होंने नालन्दा में जमीन खरीदी, उसमें कुछ कमरों का निर्माण कराया और उनमें क्लास रूम, होस्टल आदि बनवाये। बाद में सरकार ने 'नव नालन्दा महा-बिहार' की स्थापना की और उसके लिए अनेक तरह की योजनायें बनाईं। भिक्षु जगदीश काश्यप सरकार के अनुरोध पर उनके अवैत-निक निदेशक नियुक्त हुए।

यह उनके व्यक्तित्व एवं विद्वत्ता का प्रभाव था कि अनेक बौद्ध देश अपने चुने हुए विद्यार्थियों को पालि एवं बौद्ध दर्शन के अध्ययन एवं शोध कार्य के लिए नालन्दा भेजने लगे। जो नालन्दा सदियों तक जनशून्य रहा, जहां सूर्यास्त के बाद प्राण भय से लोग सड़क पर चलने से डरते थे, वह काषाय वस्त्रधारी भिक्षुओं की टोली से सहज भाव में मुस्कुरा उठा। लगा, नालन्दा के गये दिन लौट आये।

मैंने भिक्षुजी के चरणों के निकट बैठ कर बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया। इस अध्ययन ने तथा भिक्षुजी के सान्निध्य ने मेरे जीवन के पथ को मोड़ दिया। विचारधारा बदल दी। भिक्षुजी अन्त-

राष्ट्रीयख्याति के थे लेकिन उन्हें कहीं से कोई अहंकार नहीं था। अत्यन्त साधारण व्यक्ति से वे उसी भाव में मिलते, उसके दुख सुख और परिवार का हाल उसी तरह पूछते जैसे किसी बड़े आदमी से। उनके निकट बड़े छोटे का कोई भेद नहीं था। एक बार जब बिहार के राज्यपाल डा० जाकिर हुसैन उनसे भेंट करने उनके मन्दिर में पधारे तो भिक्षुजी चटाई पर बैठ त्रिपिटक की पांडुलिपि देख रहे थे। डा० जाकिर हुसैन भी उसी चटाई पर बैठ गये और बातें करने लगे।

भिक्षुजी स्वभाव से सन्त थे। लेकिन किसी गृहस्थ के घर जाते तो उसके परिवार के हो जाते। बच्चे को गोद में बैठाते और प्यार करते। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति से बातें करते। अनेक असहाय व्यक्तियों की उन्होंने मदद की।

भिक्षुजी ने बौद्ध दर्शन का गंभीर मनन किया था। उसे अपने जीवन में उतारा था—स्वभाव से और आचरण से भी। भदन्त धर्मानन्द कोशाम्बी उनके गुरु थे और महापंडित राहुल सांकृत्यायन उनके गुरुभाई थे। राहुल जी के प्रति उनके मन में बड़ी श्रद्धा थी और वे उनके बारे में अनेक कथाऐं सुनाया करते। दोनों विद्वानों ने मिल कर पालि त्रिपिटक के अनेक ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद किया है। भिक्षुजी के कई स्वतंत्र ग्रंथ भी हैं, लेकिन उनके दो ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं—'त्रियस्क फिलासफ्त (अंगरेजी) और पालि महाव्याकरण' (हिन्दी)। इन विषयों पर इस टक्कर के ग्रंथ शायद अब तक लिखे नहीं गये।

भिक्षुजी की बड़ी इच्छा थी कि त्रिपिटक के समस्त ग्रन्थोंका हिन्दी में अनुवाद किया जाये। लेकिन कठिनाई यह थी कि त्रिपिटक के मूल पालिग्रंथ थे।किसी भारतीय भाषा में सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं थे। फिर हिन्दी अनुवाद कैसे होता? सबसे पहले यह योजना बनी कि त्रिपिटक के सभी मूल ग्रन्थों का देवनागरीकरण किया जाये। लेकिन इसके लिए भी किसी आधार का होना आवश्यक था। भिक्षुजी ने बर्मा, श्याम, लंका आदि देशों से पालि त्रिपिटक ग्रन्थों की प्रतियां भेजने का निवेदन किया। सभी देशों ने पालि त्रिपिटक के ग्रन्थों की प्रतियां, अनुवाद तथा अट्ठकथायें (भाष्य) अपनी अपनी लिपि में भेंट की। भिक्षुजी ने कुछ ऐसे विद्वानों का एक दल बनाया जो इस ऐतिहासिक कार्य में दिन रात परिश्रम करे। इनमें कुछ लंका और थाईलैन्ड के तथा कुछ

भारतीय विद्वान भी थे। मुझे भी इस दल में काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लगभग चार वर्षों में बर्मा, श्यामी, रोमन और सिंहली लिपियों में प्राप्त पालि त्रिपिटक ग्रन्थों को आधार मान कर, पाठभेद सहित, देवनागरी लिपि में पांडुलिपि तैयार हुई। सरकार ने इसके प्रकाशन का व्यय वहन किया और फिर इन सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक के ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद भी वे चाहते थे। पालि त्रिपिटक के हिन्दी अनुवाद का कितना सांस्कृतिक महत्व है, शायद यह बात लोग समझ नहीं पाये और न भिक्षु जी को इसके लिए अनुकूल सहायता मिली। फिर भी वे इस महान यज्ञ को पूरा करना चाहते थे जिसकी चर्चा उन्होंने मुझ से कई बार की थी। लेकिन नियति को शायद यह स्वीकार नहीं था। उनका स्वास्थ्य गिरने लगा और फिर गिरता ही गया।

उनकी मृत्यु के कुछ माह बुद्धजयन्ती कार्यक्रम के सिलसिले में मैं बोधगया गया था। उन्हें ज्योंही यह मालूम हुआ, उन्होंने मेरे पास सूचना भेजी कि मैं थाई बौद्ध बिहार में उनसे भेंट करूं। मैं वहां दर्शनार्थ गया। वे थाई बौद्ध बिहार के एक कक्ष में पलंग पर लेटे थे। बड़े कष्ट में थे। उठ बैठे मुझे देखते ही उनके नेत्रों में नीर भर आये। धीमे स्वर में एक-एक कर वे बातें करते रहे पुरानी बातें। बिना उन्हें बताये मेरे एक सहायोगी इन्जिनियर उन बातों को टेपरेकार्ड करते रहे। बैठने में भिक्षु जी को कष्ट हो रहा था, मैंने सहारा देकर उन्हें लिटा दिया। फिर एकटक मेरी ओर देखते रहे मानों बहुत कुछ कहना चाहते हों, लेकिन कह नहीं पाते हों। कुछ देर बाद मैं उनके चरणों में सिर टेक कर बाहर चला आया। नहीं जानता था कि मेरी उनकी यह अंतिम भेंट थी।

जिन दिनों मैं नालन्दा में उनके साथ था, त्रिपिटक-प्रकाशन के कार्य से वे बम्बई जाने के लिए तैयार हुए। क्वार्टर से मेरी मां ने उन्हे देखा और मुझ से बुलाकर पूछा कि स्वामी जी क्या कहीं जा रहे हैं। मेरे बताने पर मां ने कहा कि आज के दिन की यात्रा उधर की ठीक नहीं, उनसे निवेदन करो कि वे कल जायें। मैंने भिक्षु जी, से ऐसा ही निवेदन किया। भिक्षु जी निर्दोष बच्चे की हंसी हंसते हुए बोले चतुर्भुजजी, आप तो जानते हैं कि मैं गृहस्थी के बंधनसे दूर हूँ फिर एक भिक्षु के लिए कौन सा दिन शुभ है, यह कोई महत्व नहीं रहता। मैं तो आज ही जाऊंगा। और

उन्होंने जिद्द बाँध ली। उसी दिन बम्बई के लिए रवाना हो गये। वहां से वे पत्र व्यवहार करते रहे। बम्बई में डा० अम्बेडकर के कई आयोजनों में उन्होंने भाग लिया। फिर पत्र आया कि चाऊ एन लाई के निमंत्रण पर वे चीन जाने वाले हैं। चीन से उन्होंने लिखा कि वहां उन्होंने नव नालन्दा महाविहार' का स्थापना की है और चीनी सरकार हुएनसांग की अस्थि नालन्दा को देने के लिए तैयार हो गई है। एक लम्बी अवधि के बाद वे नालन्दा वापस आये। हुएनसांग की अस्थि दिल्ली आ गई थी। खबर थी कि नालन्दा आकर चीन के प्रधान मन्त्री स्वयं अस्थिकलश भारत के प्रधानमन्त्री पं० नेहरू को समर्पित करेंगे।

नालन्दा में एक मुख्य समारोह का आयोजन हुआ। चीन के प्रधानमन्त्री तो नालन्दा न आ सके, लेकिन दलाईलामा और पंचिनलामा इस पुनीत कार्य के लिए नालन्दा पधारे। पं० नेहरू ने हुएनांग का अस्थिकलश ग्रहण किया। इस ऐतिहासिक उपलब्धी के पीछे भी भिक्षु जी का ही हाथ था। उनकी बड़ी इच्छा थी कि नालन्दा में हुएनसांग का कोई स्मारक भवन बने।

भिक्षु जी अपने बारे में अधिक कुछ नहीं बताते थे। लेकिन यहां ज्ञात हुआ कि वे गया के एक साम्रन्त कुल के थे, बचपन से ही मेधावी और सन्त स्वभाव के थे, हिन्दू विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई, आर्यसमाज में भी रहे, अन्त में बौद्ध भिक्षु बने। नालन्दा में उनके चरणों के निकट बैठ कर अनेक विद्वान शोधकार्य किया करते। उनके आसपास देश और विदेश के विद्वान बराबर जुटे रहते। सरल भाव में वे अकसर विनोद भी किया करते। उनके जीवन के अनेक ऐसे पक्ष हैं जो हम सब के लिए कौतूहलपूर्ण साथ ही प्रेरणादायक हैं। आज का नालन्दा उनकी देन है जिसका प्रमुख प्रतीक है नव नालन्दा महाविहार।

—:o:—